Journal Homepage: www.ijarpr.com ISSN: 3049-0103 (Online)

International Journal of Advance Research Publication and Reviews

Vol 2, Issue 3, pp 1-5, March 2025

“समकालीन साहित्य में नारी विमर्श और भारतीय समाज”

डॉ. शैलेषकुमार भरतसिंह झाला

पीएचडी, अध्यापक सहायक, तुलनात्मक साहित्यविभाग, वीर नर्मद दक्षिण गुजरात विश्वविद्यालय, सूरत, गुजरात, भारत

साहित्य सागर की धारा के समान है और लेखक किनारे के समान है जो इसे सही दिशा प्रदान करता है। संसार के यथार्थ को बाह्य जगत के साथ भाषा और शब्दों के माध्यम से देखने की कोशिश रचना है और रचना को पाठ रूप में देखने का नाम "साहित्य' है। वास्तव में "साहित्य लेखक और पाठक दोनों के लिए भाषा के माध्यम से परकाया प्रवेश की साधना है। "1 साहित्य का यथार्थ से रिश्ता सीधा भी हो सकता है और उलझा हुआ भी। समय और उसके संक्रमण को बताते हुए आज की रचना बेहद आख्यानात्मक है। साहित्य की यह स्रोतस्विनी युगों-युगान्तरों की छाप लेकर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, इसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इसकी गति कभी तीव्र और कभी मन्द होती रहती है। नयी अनुभूतियाँ, नयी कल्पनाएँ, इसकी शाश्वता को कायम रखती हैं, भले ही समाज इसके किसी विशिष्ट गुण को कितना ही अधिक या कम महत्व क्यों न दें। "साहित्य संभवतः हर चीज के सीमान्त पर खड़ा होता है, खुद समेत लगभग हर चीज के परे। वह दुनिया की सबसे दिलचस्प चीज है, शायद दुनिया से अधिक दिलचस्प चीज और यही कारण है कि यदि इसकी कोई परिभाषा नहीं है तो जो कुछ भी साहित्य के नाम पर घोषित और मंजूर किया जाता है उसे किसी अन्य प्रवचन के साथ मिलाकर नहीं देखा जा सकता वह कभी वैज्ञानिक, दार्शनिक, संवाद विषयक नहीं होगा। "2

सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ प्रवाहित होने वाली स्रोतस्विनी, जिसमें अनुभूति का जल अपने नये परिवेश में आकर मिलता रहता है और भाषा के द्वारा अभिव्यक्त होकर परिलक्षित होता है, उसे ही हम "साहित्य" के नाम से पुकारते है। यह सम्भावना के धरातल पर सर्वाधिक सार्वजनीन सर्जनात्मक प्रयत्न है। इस सार्वजनीन माध्यम से संभव होने वाले महावृत्तान्त जीवन की समग्रता और विचार के साझेदारी परक स्वभाव को नकारते हैं। इसमें आया हुआ जीवन चाहे बहुत छोटा और सीमित दिखे पर वह अधिक विश्वसनीय होता है। किसी बड़े दार्शनिक प्रश्न के लिए जीवन के बहुत छोटे और साधारण प्रश्नों को अनसुना नहीं किया जा सकता है।

असल में वह रचना ही है, जो हमारी चिरपरिचित वास्तविकता को संवेदना की कौंध में उद्घाटित करती है और एक बारगी आँखों से उसे देखने के लिए छोड़ देती है। वह अक्सर हमारे पास के अंधकार से हमें परिचित कराती है, लेकिन एक पीली लौ की रोशनी की तरह खंण्डित भी करती है। इस प्रकार मनुष्य की चिन्ताओं, अनुभवों, सामान्य सरोकारों और मानवीय बोध के पुर्नगठन की प्रक्रिया में रचना अपनी उपस्थिति संभव बनाती है। यह एक कार्यवाही की तरह हमारे बीच में उपस्थित होती है। आज की रचना साहित्य की संवेदना से जुड़ी है, जिसकी संरचना देखने और सुनने की क्रियाओं से बनी है। देखने की क्षमता ने उसमें आलोचना का विवेक तथा सुनने की क्षमता ने उसके कानों को कई ध्वनियों और आवाजों से भरा है, वह सिर्फ ध्वनियों को सुनने तक ही अपने को महसूस नहीं करती, बल्कि वह समय के ध्वनि-विहीन पदचाप और उनके खतरों को भी सुनने की कोशिश करती है। इसमें ढ़ेर सारे मनुष्यों की ध्वनियाँ हैं! देर सारे कोलाहल हैं! उन्माद और सिसकियाँ! कुछ स्त्री आवाजें भी हैं, क्योंकि संयोग से वह पृथ्वी पर रहती है। इन स्त्रियों की आवाजों को साहित्य ने बखूबी न सिर्फ सुना बल्कि उसे दर्ज भी किया है।

"ओस की नन्हीं बूँदों की कोमलता, गुलाब के ताजा फूलों की मधुर गंध, चिड़ियों की चहचहाट, रिमझिम बरसती बरखा की फुहारों का संगीत और पूरब दिशा में भोर के फूटते सूरज की लालिमा का उजास, इन सबको मिलाकर कोई रंग, कोई आकार बन सके तो वह निश्चय ही औरत की तस्वीर होगी।"3 इस तरह के भुलावों में नारी बहुत दिनों तक बंधी रही। भुलावों की इस डोर में बँधे रहने के कुछ कारण भी थे। व्यक्ति की समस्त चाहतो को जन्म देने वाली देवियों के रूप में उसे मान्यता प्राप्त थी। अन्धकार और अन्याय का नाश करने वाली महाकाली वह थी तो धन की अधिष्ठात्री लक्ष्मी भी वही थी।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय स्त्री को जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के बराबर ही अधिकार और अवसर सुलभ थे। कला, संस्कृति और विद्या के क्षेत्र में पुरुषों के समान वह पहल कर सकती थी। वह केवल पत्नी ही नहीं, सहोदरा और माता भी थी। पुत्री के रूप में वह पुत्र के समान ही प्रिय, युवती के रूप में युवक के समान स्वतन्त्र, पत्नी के रूप में पति से अधिक अधिकार

रखने वाली गृहस्वामिनी और जननी के रूप में पिता से भी अधिक पूजनीय थी। शिक्षा के दरवाजे उनके लिए सतत् खुले थे। धार्मिक अनुष्ठानों में उनके लिए कोई बाधा नहीं थी।मैत्रेयी, गार्गी, लोपामुद्रा जैसी अनेक नारियाँ उस युग की ही देन हैं।

महाभारत काल के बाद धीरे धीरे स्त्री की स्थितियों में ह्रास आता गया। नारी के धार्मिक अधिकार कम कर दिये गये। शिक्षा की सुविधाएँ न्यून होती गयी और सार्वजनिक जीवन में भाग लेने की स्वतन्त्रता सीमित होती गयी। शिक्षा से वंचित और शास्त्र-ज्ञान से रहित स्त्री कर्तव्य और अधिकार की भूल भूलैया में फँसकर रह गयी। कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने में असमर्थ हो गयी और हर बात के लिए पुरुषों पर निर्भर रहने लगी। स्मृतिकारों ने भी प्रतिपादन कर दिया कि "स्त्रियाँ स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं है, पुरुषों को चाहिए कि वे उन्हें अपने अधिकार में रखें। बचपन में वह पिता के अधिकार में, यौवनावस्था में पति के अधिपत्य में और पति की मृत्यु के बाद पुत्र के संरक्षण में रहें।"4 इस विचारधारा ने स्त्री की बची-खुची आजादी भी छीन ली तथा अधिकारों और स्वतन्त्रता को खत्म करने का जो क्रम शुरू हुआ वह निरन्तर चलता रहा।

विदेशी आक्रांताओं विशेषकर मुसलमानों के आक्रमण के परिणाम स्वरूप पर्दा प्रथा की शुरूआत हुई जिसके कारण उन्हें घर की चहारदीवारी में कैद कर दिया गया। "यहाँ तक की पर्दे के नाम पर उसका चेहरा भी उससे छीन लिया गया है। वह सिर्फ एक बेनाम, बेचेहरा और बे-पहचान औरत है।"5 नारी जीवन देने वाली है काल की त्रासदी उससे उसी के जीवन के अधिकारों को छीनने लगी। धीरे-धीरे नारी की स्थिति बद से बदतर होने लगी और जीवन देने वाली खुद ही जीवनहीन हो गयी।

साहित्य ने पाँच हजार वर्षों से चले आ रहे मनुष्य के इतिहास की इस मानवीय हत्या के खिलाफ पहली बार सामूहिक मनुष्यता के पक्ष में अपनी आवाज बुलन्द की है। साहित्य चाहे वह विश्व के किसी परिप्रेक्ष्य का हो, स्त्रियों के सन्दर्भ में आज जवाबदेह है। आज स्त्रियों से जुड़े मुद्दे ज्यादा विचारणीय हैं, क्योंकि यह मनुष्यों की मुक्ति से जुड़ा मुद्दा है। इसकी स्थिति में परिवर्तन की शुरुआत हमारी समझ और संवेदना पर निर्भर करती है। ऐतिहासिक जानकारी और वर्तमान स्थिति दोनों से ही यह स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन की किसी भी कार्यवाही में इस देश के स्त्री संवर्ग की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है लेकिन सामाजिक परिवर्तन के इस उत्स की ओर हम कभी ध्यान नहीं दे पाये हैं। सामाजिक परिवर्तन के लिए हम चाहें जितनी बड़ी बातें करें पर स्त्री संवर्ग की स्थिति में बदलाव को हम मान्यता नहीं दे पा रहे हैं। ऐसे में यदि हम किसी प्रकार के बदलाव की तरफ नहीं जा पा रहे हैं तो कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, भविष्य में होने वाले परिवर्तनों के जो अंकुर धीरे-धीरे विकास पाते रहते हैं उन्हें तब तक कोई नहीं देख पाता जब तक वे बड़े वृक्ष का आकार नहीं धारण कर लेते। प्रत्येक व्यवस्था चाहे वह अपने समय में कितनी भी सुन्दर और उपयोगी क्यों न रही हो सब कालों की आवश्यकता और अभावों की पूर्ति नहीं कर सकती।

आज का साहित्य स्त्रियों के पक्ष में खड़ा होकर मनुष्यता के मूल के मर्म से जुड़ता है और मनुष्यता को मनुष्य से अलग करने वाली शक्ति का प्रतिकार करता है। मनुष्य होना ही तो मृत्यु को नकारना है क्योंकि मनुष्य की पीढ़ी दर पीढ़ी उपस्थिति ही उसकी शाश्वत जैसी उपस्थिति है। "इसी उपस्थिति के चलते किसी मनुष्य को अपने मनुष्य में जीवित रहने का अमर अहसास रहता है, मनुष्यता की इस निरन्तर उपस्थिति के साथ बने रहने वाले सकारात्मक मूल्य ही तो मनुष्यता की उपलब्धि है। यदि मानवीय एकता का यही सकारात्मक तत्व बना रहा तो मनुष्यता विरोधी तत्व स्वयमेव नष्ट हो जायेंगे।"6

साहित्य नारी की सुरक्षा की कीमत देकर इन्साफ हासिल करने के लिए जमीन आसमान एक कर रहा है। अतीत के दस्तावेजों को इकट्ठा कर आधुनिक युग की बेचैन औरतों पर साहित्य प्रकाश डाल रहा है और अपने सपनों को यथार्थ का रूप देने का प्रयास कर रहा है। वर्तमान में ही नहीं आदिम युग से पुरुष नारी के सौंदर्य, समर्पण, बुद्धि के करिश्में से सम्मोहित व आतंकित रहा है। स्त्री उसे हर दृष्टि में श्रेष्ठ व सुविधाजनक लगी और जीवन के लिए अनिवार्य भी। अतः श्रेष्ठ वस्तु हाथ से छूट न जाये, इस पर कोई अन्य अपना अधिकार न जमाने पाये इस आशंका ने पुरुष को स्त्री की सुरक्षा के प्रति अधिकाधिक सशक्त और सशंकित दोनों बनाया, क्योंकि स्त्री चिंतामणि थी जो चाहता पा लेता। पुरुष को उससे बढ़कर जीवन में कुछ चाहिए होता नहीं। पर पुरुष के लिए उतनी ही उपयोगी थी जितनी उसे आवश्यकता थी। "स्त्री शरीर रहे लेकिन अपने आप को उतना ही शरीर माने जितनी मुझे जरूरत है। उससे अधिक मानना उसकी उच्छृखंलता और अमर्यादा है। कंकाल के उपन्यास में प्रसाद ने स्वीकार किया है, पुरुष नारी को उतनी ही शिक्षा देता है, जितनी उसके स्वार्थ में बाधक न हो।"7 पुरुष उनके बारे में कम से कम जानने की ख्वाहिश रखता है। स्त्री उसके सामने हमेशा दृश्य में होती है, लेकिन उसकी संवेदना का केन्द्र कभी नहीं बन पाती। साहित्य के पृष्ठों पर दर्ज स्त्री चरित्र असंतोष और वेदना से भरा है। वह पुरुष निर्मित इस समाज में स्वतन्त्रता व सम्मान चाहती है।

मूलतः इस समाज में स्त्री की न अपनी कोई जाति है, न ही नाम है और वह बेटी, पत्नी और माँ के रूप में अपनी पहचान पाती है। स्मरण और विचारों के इस संसार में पुरुष वर्ग की स्थापना एक व्यक्ति के रूप में हुयी और इसे महज एक आकस्मिक घटना के रूप में स्वीकार किया गया। व्यक्ति के रूप में पुरुष सम्पूर्ण है और स्त्री तो बस अन्या है।

"सत्ता पुरुष-वर्चस्व का असली मुखौटा। सत्ता एकछत्रता और स्थायित्व एक साथ चाहती है। हजारों साल वह विशिष्ट वर्गों के हाथों में रही है। कहना चाहिए, मनुमहाराज ने कुछ जातियों को ऐसा आरक्षण दे दिया था कि सदियों समाज चलाने की सत्ता उन्हीं के हाथों में रही। आज उसने अपने मुहावरे, भाषा और संस्कृति बना ली है अनुभव और कौशल से उसे माँजा-सँवारा और पैनापन दिया है। संयोग नहीं है कि शक्ति की सारी शब्दावली ही मर्दवादी है। सर्वशक्तिमान भगवान ही परम-पुरुष है। वर्चस्व के लिए सत्ता-घटक आपस में ही

नहीं लड़ते; पराजितों, दलितों, शोषितों और स्त्रियों का भी शोषण और संहार करते हैं, फिर इसे जायज सिद्ध करने के दर्शन गढ़ते और गढ़वाते हैं। वह इसे ईश्वरीय विधान, प्रारब्ध या प्राकृतिक न्याय के रूप में सारे समाज का मनोविज्ञान बना देते हैं। "8 यह वर्चस्ववाद आत्मरति और दम्भ पूर्ण उस रवैये को संरक्षण देता रहा है, जिसमें मनुष्य के तौर पर किसी को अपमानित करने के अपराध के लिए आत्मभर्त्सना का साहस भी नहीं है। आज आवश्यकता इन समीकरणों में बदलाव की है।

आज स्त्रियों को अपनी व्यक्तिगत और सामूहिक शक्ति से परिचित होना होगा, अपने मन के अन्दर उमड़ रहे प्रश्नों, जिज्ञासाओं को पूछना होगा। एक आन्तरिक सामाजिकता का विकास जो बदलाव की इच्छा से सम्बन्धित हो, का उपयोग बेहतर सामाजिक संरचना की पहली शर्त है। रघुवीर सहाय के कथन का आधार लिया जाए तो कहा जा सकता है कि "आज अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों ने मानवीय रिश्तों को बिगाड़ने की प्रक्रिया में वह स्थिति पैदा कर दी है कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले जन मानवीय अधिकार की अपनी हर लड़ाई को एक पराजय बनता हुआ पा रहे हैं। संघर्ष की रणनीतियाँ उन्हीं के आदर्शों की पूर्ति करती दिखाई दे रही हैं, जिनके विरुद्ध संघर्ष है, क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया है।"9 यद्यपि सताये हुए लोगों का यथार्थ एक सा ही होता है, चाहे वह किसी भी जाति, नस्ल, वर्ण और लिंग के हो। शोषण के विरुद्ध एक सार्थक प्रतिक्रिया की दरकार हमेशा ही होती है। यही नहीं इसके बाद एक और महत्वपूर्ण बात अपने निवेदन में लिखी है- "ये सम्बन्ध हृदय परिवर्तन से नहीं बनेगें, संघर्ष के नतीजों की बार-बार जाँचे से बनेगें।"10

"उत्पीड़न लिंग समूह, दमित दलित वर्ण और जातियाँ तथा हमेशा ही हाशिए पर रखे गए वर्ण समूह अक्सर ही सामूहिक रूप से गाने वाले समूह होते हैं। समूह में गाना उनके जीवन व्यवहार का ही हिस्सा होता है, कोई सांस्कृतिक आयोजन नहीं। यह गाना उन्हें एक दूसरे से जोड़ता है, एक दूसरे के दुःख से इसमें एक निष्क्रिय ही सही पर प्रतिरोध भी है। वर्चस्वशाली या सत्ताधारी वर्ग के लोग किसी खास आयोजन के तहत भले ही सामूहिक रूप में गा लें, लेकिन सहज रूप से वे कभी समूह में नहीं गाते। सामूहिकता वर्चस्वशाली का गुण नहीं है, उत्पीड़न का स्वभाव है।"11 आवश्यकता इस निष्क्रिय प्रतिरोध को वर्चस्ववाद के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध में तब्दील करने की है। बनी बनायी रूढ़िबद्ध छवियों को नकार कर अपनी अस्मिता की खोज करने की है और यह शिक्षा द्वारा ही सम्भव है, यही वह सेतु है जो उसे एक वस्तु या अर्द्ध मानव से सम्पूर्ण व्यक्तित्व वाले मानव के दर्जे तक ले जा सके। "शिक्षा ने जहाँ मध्यम वर्गीय स्त्री को अपना भला बुरा सोचने के लिए एक ठोस जमीन और मानसिक सूक्ष्मता दी है, वहीं विवाह सम्बन्धों और पारिवारिक ढ़ाँचे ने उसकी अपेक्षाओं को भी बड़ा बनाया है। स्पष्टतः परिवार के उस ढ़ाँचे से जहाँ स्त्रियों से सिर झुकाकर बिना सवाल पूछे, घर के बड़ो की हर जायज नाजायज माँग को चुपचाप पूरा करने की अपेक्षा की जाती रही है। उसे कई बार शिकायते होगीं पर हमारे यहाँ इस सहज मानवीय सच्चाई के प्रति समाज का रवैया काफी शुर्तमुर्गाना रहा है।"12

स्त्री पुरुष से कमतर नहीं है किन्तु वर्चस्वी अवधारणाएँ और पुंसवादी दृष्टि ने उन्हें एक निर्जीव वस्तु की श्रेणी में रखा है। स्त्री चूँकि दमित है वह उन घटनाओं को जरूर उजागर करना चाहेगी, जो दमन को प्रोत्साहित करती हैं। पुरुष सत्ताधारी है अतः वह दमन स्त्री के व्यक्तिगत अनुभव हैं। समाज व्यवस्था के भीतर होते हुए भी वस्तु स्थिति में उसकी एक आलोचनात्मक दूरी है, जिसके कारण स्त्री अपने दमन का विमर्श निर्मित कर पाती है। "स्त्री की लड़ाई पुरुष के प्रति नहीं है, बल्कि उस विचारधारा के प्रति है, जो "अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी" वाली कातरता को और पुरुष के दृष्टिकोण को चुनौती देता है।"13

स्त्री व दलित आन्दोलनों के पहले औपनिवेशिक ताकतों के विरोध में जुटे स्वाधीनता आन्दोलन, रंग भेद नीति के खिलाफ पनपा 'नेग्रीच्यूड' का आन्दोलन ये सब अस्मिता आन्दोलन इस बात के प्रमाण है कि स्त्री अनादृत उपेक्षित प्रताड़ित है, जिसकी देह, मन, अस्मिता, सदियों से खेत की तरह तामी बांधी गयी है। आज उसमें पंखुड़ियाँ फूट रही हैं और संचित आवेग यहाँ झरने की तरह फूट पड़ें हैं।'पर्सनल इज पोलिटिकल' का आधारभूत दर्शन आगे बढ़ाते हुए, हमारी लेखिकाएँ वैयक्तिक व सामूहिक जीवन के आरोह-अवरोह को और नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्पंदन को कुछ इस तरह अपने साहित्य में दर्ज कर रही हैं कि एक पूरी जातीय अस्मिता का अन्तरंग इतिहास सामने आ खड़ा हुआ है। 'सिटकनी', 'चाक', 'आवां', 'कलिकथा', 'शेष कादम्बरी', 'तत्वमसि' आदि साहित्यिक प्रतीकों के माध्यम से घरेलू व राजनीतिक विस्थापनों की एक पूरी तस्वीर हमारे यहाँ भी बखूबी खिच रही है, अब "उसे पाँव के नीचे जमीन चाहिए, जो ठोस हो समाज में वह अपने उन दृढ़ पावों पर खड़े होकर अपने अस्तित्व की रक्षा कर सके, उसे सुरक्षित स्थितियों में ही आत्मविश्वास उत्पन्न होता है, अपने प्रति स्वयं उत्तरदायी होने का गौरव और सिर ऊँचा करके आकाश छू लेने का उत्साह होता है, उत्साह यदि हर खास में आ समाए तो जड़ता का अन्धकार दूर हो सकता है।"14 स्वीकार करना होगा कि स्त्री अपना कोई इतिहास नहीं है इतिहास के नाम पर अगर कुछ है भी तो वह है सेवा और समर्पण की आप बीती स्त्री को अपना इतिहास खुद बनाना होगा।

समाज और साहित्य में अब नारी शक्ति के रूप में उभर रही है। इस प्रक्रिया को कोई रोक नहीं सकता। सौंदर्यशास्त्री और कलाशास्त्री लाख जतन कर लें 'स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति' और 'स्त्री' पर पुराणपंथी सबसे पहले रोक लगाते हैं। तालिबान इसके उदाहरण हैं। भारत में भी कट्टरवादी शक्तियाँ 'धर्म' और 'संस्कृति' की दुहाई दे रही हैं। यथास्थितिवादी इस बात को लेकर खासा परेशान हैं कि स्त्री अपने बारे में खुद फैसले करने की बात कर रही है। "भले ही अपने पैर पर खड़ी एक औरत को स्वीकार करने में अभी अपने समाज को समय लगे।"15

इस समाज में सांस्कृतिक रूपों के निर्माण की प्रक्रिया, उपभोग के रहस्यों, उपभोक्ता संस्कृति के इरादों और मनुष्य के मनोजगत से पर्दा उठाने के लिए अब शायद जरूरी है कि सामने के परिदृश्य में और गहरे जाया जाए। ब्यौरो को ध्यान रखते हुए एक सार तत्व के रूप में उसकी व्याख्या की जाए। सामाजिक विभेदों और विडम्बनाओं की छानबीन हो लेकिन मनुष्य की प्रतिरोधात्मक शक्ति दारूण जिजीविषा का बखान भी हो, क्योंकि इसके बिना हम शक्ति का अर्जन नहीं कर पायेगें। "नैसर्गिक रूप से तो स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं ही। जिस आधुनिक लोकतान्त्रिक समाज में मनुष्य अपने व्यक्तित्व की ऊँचाई छू रहा है, उसके निर्माण में स्त्री की भूमिका दूसरे दर्जे की मानी जाती है। हमारे अपने देश में भी, जब से देश आधुनिक राष्ट्र होने की प्रक्रिया आरम्भ होती है, तभी से हम स्त्रियों को सामाजिक, राजनीतिक प्रक्रियाओं में सक्रिय भूमिका निभाते पाते हैं। यह और बात है कि तब उन प्रक्रियाओं को इतिहास या राष्ट्रीय "माइथालाजी" के रूप में दिया जाता है। जब स्त्रियों को केवल "पुरुष की प्रेरणा" के रूप में प्रस्तुत किया जाता है या फिर अधिक से अधिक ऐसी वीरांगनाओं के रूप में, जिन्हें परिस्थितियाँ पराक्रम के लिए बाध्य कर देती हैं। "16

सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया प्रकृति से पूरी तरह विज्ञान सम्मत है, जिसके अनुसार प्राकृतिक रूप से स्त्री पुरुष से अधिक सशक्त अधिकार सम्पन्न और वैभव युक्त है, इस नियम से सृष्टि की रचनाकार व पुरुष की माँ होने के नाते अध्यात्म प्रेरित समाज में स्त्री का दर्जा पुरुष से ऊपर होना चाहिए था पर प्राचीन काल से आज तक ऐसा नहीं हुआ लेकिन आने वाले समय को महिलायुग के कथ्य के रूप में यह भविष्यवाणी की जा सकती है, क्योंकि महिलाओं की स्थिति को लेकर जो अन्तर्विरोध दिखाई दे रहे हैं, उनकी धुन्ध हटती दिखाई दे रही है परन्तु यह स्त्रियों पर भी निर्भर करता है कि वह इस धुन्ध को हटाकर उजालों को विस्तारित करने के लिए कितने आकाश को राह दे पाती हैं। आकाश जो हर आँगन में टुकड़ा टुकड़ा बँटा दिखाई दे रहा है, उसे समिष्टगत रूप में संयोजित कर प्रकाश की किरणें पूरे समाज में बिखेर पाती हैं। समाज को बदलने की उनमें क्षमता है, इसके लिए अपनी लक्ष लक्ष बहनों, को साथ लेकर सामूहिक अभियान चलायें, मात्र विरोधी विद्रोही आन्दोलन नहीं, जागरूकता अभियान। "आज किसी भी जगह चार सीताएँ, चार सावित्रियाँ, चार पार्वतियाँ अपनी पूरी प्रतिरोध शक्ति के साथ उठ खड़ी हो तो समाज का नक्शा बदल जाएगा। "17

स्त्रियों पर पुरुषों का प्रभुत्व प्रत्यक्षतः बल पर आधारित प्रतीत होता है और इस प्रभुत्व को स्त्रियाँ स्वतः ही स्वीकारती हैं। हमारे हर तरह के विचार पुरुष केन्द्रित हैं। स्त्री और पुरुष का यह भेद ही अंततः अस्तित्व निषेध आदि के द्वैत की सृष्टि करता है। इस द्वैत में एक की कीमत पर दूसरे का महिमा मण्डन किया गया है। इन विपर्ययों के सहारे हम स्त्री और उसकी दोयम सामाजिक और राजनैतिक हैसियत को आसानी से समझ पाते हैं और यह भी समझ पाते हैं कि कितने नियोजित तरीके से स्त्री को हमारी विचार व्यवस्था में प्रस्तुत किया गया है। बराबरी के तमाम दावों के बावजूद पारिभाषिक रूप से स्त्री व्यक्ति हो ही नहीं सकती, बल्कि तर्क के आधार पर कर्ता, ज्ञानी और महत्वपूर्ण हो जाता है। "पुरुष कर्ता का अस्तित्व स्त्री को वस्तु के रूप में निर्धारित करता है। लेकिन इस रूप में भला स्त्री को पुरुष के लिए पूरक क्यों होना चाहिए? जब स्त्री जानने लगी है कि एक को गैर जरूरी बनाने से ही दूसरा जरूरी और महत्वपूर्ण हो जाता है। इसी कारण पुरुष द्वारा निर्मित संस्थाएँ चाहें संसद हो, नौकरशाही हो या पुलिस, स्त्री की सांस्कृतिक, सामाजिक और यौन जनित भिन्नता को व्यक्ति के स्तर पर महत्व देने से इनकार करती हैं। ये संस्थाएँ भिन्नता को तब तक व्यक्त नहीं कर पाएँगी, जब तक भिन्नता के प्रसंग में हम अपने सोच में परिर्वतन नहीं लाएँगे।"18

आज शिक्षा और अधिकार की सजगता बढ़ने के साथ ही स्त्रियाँ पुरुष प्रभुत्व केदुरूपयोग के विरुद्ध आवाज उठाने लगी हैं, हालांकि अभी ज्यादातर स्त्रियाँ न तोअत्याचारों की शिकायत करती हैं और न ही अपनी सुरक्षा के लिए बनाए गए कानूनों केइस्तेमाल का साहस जुटा पाती हैं। इसका प्रमुख कारण उनका सामाजिक परिवेश है।बचपन से ही समर्पण, निर्भरता, त्यागपूर्ण प्रेम, वफादारी के आदर्शो व नैतिक शिक्षा केद्वारा उनकी सोच को अनुकूलित करके उन्हें दिमागी रूप से गुलाम बनाने का प्रयास कियागया है। उनके अन्दर उमड़ते प्रश्न जो जबान तक आते-आते खो जाते हैं या निकलतेहै तो अस्फुट से जिनका कोई आकार नहीं होता, उन्हें हमेशा संस्कार और अनुशासन केनाम पर दबा दिया जाता है। इसका श्रेय कुछ हद तक पुरुष की नैतिक भावनाओं औरसभ्यता को जाता है। "नैतिकता परम्परा और मर्यादा का पर्याय बन चुकी स्त्री किसी नेकिसी बहाने दमन और शोषण का शिकार होती है। समाज की मुख्य धारा से खारिजकी जाती हुयी वह अस्मिता के लिए लड़ती जद्दोजहद करती अंततः चुकती जाती है।

साहित्य में जो दिखता है वह समाज में भी मौजूद है, खासकर स्त्री के सन्दर्भ में, जोसामाजिक व्यवस्था को दुरुस्त करने, पारिवारिक वंश वृद्धि के लिए तथा मर्यादा औरलोकापवाद के कड़वे प्रश्नों से टकराती है। "19 किसी भी समाज की सामाजिक व्यवस्थाही समाज की उन्नति अवनति का कारक होती है। व्यवस्था बदलेगी, तभी समाजबदलेगा, समाज की सोच बदलेगी तो स्त्रियों की दशा बदलेगी। "महिलाओं के साथ जितने भी अत्याचार हुए हैं, जितनी कैद और यंत्रणाएँ दी गयी हैं उनका कारण पुरुष की नारी दमन की मानसिकता नहीं रही है। ये कारण प्रायः सामाजिक, धार्मिक और कायिक रहे हैं और नारी के उद्धार के लिए पहली जरूरत इन कारणों को ही दूर करना है न कि एक विवादग्रस्त और विरोधाभासी आन्दोलन चलाना।"20 आज की वास्तविक स्थिति यह है कि चाहे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की टकराहट हो, स्त्री-स्त्री के बीच कड़वाहट हो, पुरुष-पुरुष के मध्य अहं से पोषित विकास की अदम्य लालसा हो, निम्न और गरीबों के शोषण की पीड़ा हो, नैतिक और अनैतिक तरीके से धन कमाने की लिप्सा हो अन्ततोगत्वा ये सारे संघर्ष और समस्याएँ सामाजिक जीवन में अच्छाई-बुराई, गुण-अवगुण के संघर्ष का रूप ले लेते है। नासिरा शर्मा के शब्दो में कहें तो "मैं यह मानती हूँ कि बुनियादी लड़ाई मर्द औरत की विभिन्नता की है मगर इसके साथ मुझे आगे जाकर यह लड़ाई मर्द औरत तक सीमित नहीं लगती, बल्कि मनुष्य के गुणों-अवगुणों की बन जाती है। काँच की कनी और हीरे की कनी में आकाश पाताल का फर्क होता है, जबकि देखने में दोनों शीशे के मामूली टुकड़े हैं। मनुष्य की कोटि, स्वभाव और मनुष्यता के तत्वों की मात्रा की आपसी भिन्नता औरत-मर्द से आगे की बात है, वरना

शोषण और अत्याचार इनसे हटकर ऊँच-नीच की विभिन्नता में भी निहित होता है, जहाँ अत्याचारी भी औरतें हो सकती हैं और उत्पीड़ित भी, मगर ऐसा देखने में कम ही आता है, क्योंकि सत्ता औरत के हाथों में कभी-कभी आती है।"21

शताब्दियों से होते आ रहे शोषण इस बात के गवाह हैं कि हम मानवीय स्तर पर एक दूसरे को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। जहाँ एक ओर मुक्त बाजार व्यवस्था से समाज में होने वाले तनाव को दूर करने की जरूरत है, वहीं दूसरी तरफ सभी वर्गों के साथ स्त्री-पुरुषों के मध्य सौहार्द एवं समानता की आवश्यकता है। किसी एक वर्ग को शोषक के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। नासिरा शर्मा का मानना है कि "हर युग में संवेदनशील मानवीय गरिमा से परिपूर्ण पुरुषों ने जन्म लिया, उन्हीं के साथ हिंसक प्रवृत्ति वाले मर्दो ने भी जन्म लिया। अच्छाई बुराई की यह लड़ाई आदि काल से चली आ रही है, जो कभी खत्म नहीं होने वाली है। उसी तरह आज भी वे सारे नये पुराने प्रश्न लिए मर्द औरत उन आत्याचारों के विरोध में खड़े होते हैं, जो मानवीय संदर्भ के विरुद्ध अत्याचार की श्रेणी में आते हैं, फर्क तब और अब में यह है कि आज हम ज्यादा सुशिक्षित, सभ्य होने का दावा करते हैं, ऊँची आवाज में मानवीय अधिकारों की दुहाई देते हैं, मगर नजर यह आ रहा है कि मर्ज बढ़ता गया ज्यूँ ज्यूँ दवा की.....।"22

अब बात समझ में इस तरह आने लगी है कि समाज के बदलने से पहले जरूरत है, इन्सान को स्वयं अपने को बदलने की, खासकर दूसरों के लिए जगह बनाने की ताकि समाज में न सही, परिवार के दायरे में तो सुख-सुरक्षा के साथ प्यार पा सके और बदलते मर्दो वाला परिवार समाज को बदलने का दम भविष्य में भर सकता है।

संदर्भ ग्रंथ:-

1. विचार का अनंत पुरुषोत्तम अग्रवाल, पृ.सं.-42
2. वही, पृ.सं.-43, 44
3. इक्कीसवीं सदी की ओर सुमन कृष्णकान्त, प्र.सं.-23
4. वही, पृ.सं.-24
5. आदमी की निगाह में औरत राजेन्द्र यादव, पृ.सं.-22
6. आजकल (मार्च-2007), सं. प्रवीण उपाध्याय, पृ.सं.-18
7. वही, पृ.सं.-19
8. तद्भव - (अप्रैल-2003), सं. अखिलेश, पृ.सं.-275
9. आदमी की निगाह में औरत राजेन्द्र यादव, पृ.सं.-16
10. वही, पृ.सं.-58
11. एक कवि की नोट बुक राजेश जोशी, पृ.सं. -74
12. वही, पृ.सं.-74
13. वही, पृ.सं.-107
14. स्त्री-देह की राजनीति से देश की राजनीति तक मृणाल पाण्ड़े, पृ.सं.-82
15. इक्कीसवीं सदी की ओर सुमन कृष्णकान्त, पृ.सं.-28
16. वही, पृ.सं.-47
17. स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ रेखा कस्तवार, पृ.सं.-182
18. विचार का अनंत पुरुषोत्तम अग्रवाल, पृ.सं.-70
19. बन्द गलियों के विरुद्ध मृणाल पाण्ड़े, क्षमा शर्मा, पृ.सं.-15
20. उपनिवेश में स्त्री मुक्ति-कामना की दस वार्ताएँ प्रभा खेतान, पृ.सं.-115, 116
21. सामाजिक सन्दर्भों के नये प्रतिमान डॉ. किरण श्रीवास्तव, पृ.सं.-148
22. दैनिक जागरण (लखनऊ-11 मार्च, 2007), पृ.सं.-10